गंगा प्रसाद विमल के उपन्यासों में स्वातंत्र्योत्तर युग का यथार्थ

डॉ० मोनू सिंह*

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी, चौ० चरण सिंह राजकीय महाविद्यालय, छपरौली, बागपत

***Email ID**: monusingh5233@gmail.com*

Accepted: 24.03.2023 **Published**: 01.04.2023

मुख्य शब्दः गंगा प्रसाद विमल के उपन्यास।

शोध आलेख सार

गंगा प्रसाद विमल स्वातंत्र्योत्तर युग के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। विमल बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने गद्य–पद्य दोनों ही विधाओं में सृजनात्मक साहित्य की रचना कर अपनी मौलिक सूझ–बूझ एवं संवेदनशील होने का परिचय दिया। उनका रचना संसार बहुत ही व्यापक है। उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना, निबन्ध, समीक्षा आदि विधाओं में साधिकार लेखन किया। वे एक उच्चकोटि के अनुवादक भी थे। उन्होंने कई पत्र–पत्रिकाओं का संपादन भी किया। वे कई महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक पदों पर भी आसीन रहे तथा उन पदों पर अपने उत्तरदायित्वों का गरिमापूर्ण और सफल निवर्हन किया। उनके मौलिक रूप से छः काव्य संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'विजप', 'बोद्धिवृक्ष', 'इतना कुछ', 'सन्नाटे से मुठभेड़', 'मैं वहाँ हूँ' और 'बरगद' हैं। उनके अद्यतन आठ कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'कोई शुरूआत', 'अतीत में कुछ', 'इधर–उधर', 'बाहर न भीतर', 'चर्चित कहानियाँ', 'मेरी कहानियाँ' और 'इंतजार में घटना' आदि प्रमुख हैं। डॉ० विमल के अब तक पाँच उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'अपने से अलग', 'कहीं कुछ और', 'मरीचिका', 'मृगान्तक' और 'मानुषखोर' हैं। यह शोध–पत्र उनके उपन्यासों पर ही केन्द्रित है।

पहचान निशान

**Corresponding Author*

© IJRTS Takshila Foundation, डॉ० मोनू सिंह, All Rights Reserved.

डॉ० विमल एक विशिष्ट रचनाकार हैं। उनकी विशिष्टता उनके साहित्य में भली–भाँति परिलक्षित हुई है। उनका साहित्य प्रभाववादी साहित्य नहीं है न ही तो उन्होंने अपने किसी समकालीन का अनुकरण किया है और न ही किसी रचनाकार का पिष्ट–पेषण किया। उनके सात्यि में सर्वत्र मौलिकता और नवाचार के दर्शन होते हैं। मौलिकता के चलते उन्होंने जोखिम भी उठाए हैं, जो प्रायः आलोचकों को पसंद नहीं आए। डॉ० विमल का साहित्य आलोचना की घिसी–पिटी परिपाटी या अवधारणाओं के लिए हमेशा ही चुनौती बना रहा, जिसके चलते मुख्यधारा के आलोचकों ने उनके उपन्यासों से एक दूरी बनाकर रखी। डॉ० विमल के उपन्यास अपने समय एवं समाज का बहुत ही सूक्ष्म और गहन रेखांकन हैं, भले ही उसकी प्रामाणिकता कहीं–कहीं आपके गले न उतरती हो तो भी वे स्वातंत्र्योत्तर युग के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक स्थितियों के गहन विमर्शकार हैं। डॉ० विमल ने अपने काव्य–संग्रह **'सन्नाटे से मुठभेड़'** की भूमिका में स्पष्ट लिखा है **''जब दूसरे लोग अपना जैसा लिखने की कोशिश में विफल हैं, तो मैं अपने जैसा लिखने की जिद में जो लगातार लिखे जा रहा हूँ, इसका कोई कारण भी होगा।''**[i]

डॉ० विमल की यह आत्मस्वीकृति उनकी लेखकीय प्रतिबद्धता और मौलिकता को बखूबी उजागर कर देती है। स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय समाज बहुत ही उथल–पुथल के दौर से गुजरा। 20वीं शताब्दी में जहाँ एक ओर क्रांति ने जबरदस्त हलचल मचायी, लोगों के जीवन स्तर में सुधार हुआ। वहीं दूसरी ओर भारतीय समाज में भूख, गरीबी, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, राजनीतिक अवमूल्यन, नैतिकता का क्षरण, अपसंस्कृति एवं सामाजिक विघटन भी व्यापक तौर पर हुआ। डॉ० विमल ने भारतीय समाज की इन विसंगतियों और अन्तर्विरोधों को बिना किसी अतिरंजना के बहुत ही प्रामाणिकता से अभिव्यक्त किया है। उन्होंने अपने पहले उपन्यास **'अपने से अलग'** में पारिवारिक विघटन को बहुत ही उत्कृष्टता से अभिव्यंजित किया है। इस उपन्यास में साठ के दशक की युवा पीढ़ी की मनोवैज्ञानिक स्थितियों का विवेचन किया गया है। साठ के दशक की पीढ़ी में मुख्य रूप से दो बातें एक साथ उभरकर आयी। एक तो वह संसार के बारे में मौलिक ढंग से सोचने लगे थे, क्योंकि देश में नये ढंग के स्कूल कॉलिज खुलने से बौद्धिक परिवेश का निर्माण हुआ किंतु परिवेश का निर्माण होने से भी देश के हालात में कोई आमूल–चूल परिवर्तन नहीं हुआ। युवाओं के रोजगार का प्रश्न अधर में ही लटका रहा, जिसके कारण युवाओं में नशाखोरी की प्रवृत्ति ने घर कर लिया। 'अपने से अलग' उपन्यास में विमल ने इसी प्रवृत्ति को लक्षित करते हुए एक पारिवारिक कथा के माध्यम से इसे उजागर किया है। इस उपन्यास में पारिवारिक विघटन का दंश भी है, जैसा कि उपन्यास के शीर्षक से उद्घाटित होता है कि अपनों से अलग होने की पीड़ा समूचे परिवार को विघटित कर देती है। इस उपन्यास में भी इसी सूत्र की व्याख्या है।

'अपने से अलग' उपन्यास में विमल ने औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप सम्बन्धों में आए बदलावों को बहुत पहले ही रेखांकित कर दिया था जिसका व्यापक प्रभाव हमें बाद में देखने को मिलता है। औद्योगीकरण और पूँजी के प्रसार के चलते लोगों को अपने स्थानीय नगर, शहर और कस्बे से महानगरों की ओर उन्मुख

किया, किन्तु इस महानगरीय संस्कृति ने हमारे सामाजिक ढाँचे को गहनता से उद्वेलित किया। सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप अब पूर्ववत् नहीं रह गया। विमल ने सामाजिक सम्बन्धों के इस बदलते व्याकरण को एक नई कथा शैली और शिल्प में प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास का पुरूष अपने व्यवसाय के सिलसिले में दूसरे शहर में जाता है और वहाँ पर उसके सम्बन्ध एक दूसरी महिला से हो जाते हैं, जिसके कारण उसकी पत्नी एक असुरक्षाबोध और आशंका से घिर जाती है, जिसका प्रभाव उसके तीनों बच्चों पर भी पड़ता है। पूरे उपन्यास में सम्बन्धों से खत्म होती उष्मा विश्वास और संवेदना का विमल ने उत्कृष्ट रेखांकन किया है। पति–पत्नी के सम्बन्धों का असर निश्चित रूप से उनके बच्चों पर पड़ता है। **मन्नू भण्डारी** ने अपने उपन्यास **'आपका बंटी'** में इसी समस्या का चित्रण किया है। विमल ने अपने उपन्यास में इसी समस्या को एक नई कथा पद्धति और शिल्प के माध्यम से प्रस्तुत किया है। विमल कथा रूढ़ि को ढ़ोने में विश्वास नहीं करते थे। वे नए समाज और समय को नई शैली में कहने के पक्षधर रहे हैं। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में कथासूत्र बीच–बीच में पाठक के हाथों से छूट जाता है। वहाँ कथा का पारम्परिक स्वरूप नहीं है, न ही वर्णन के नाम पर स्थूल ब्यौरे हैं, अपितु नए जीवन सत्यों, स्थितियों को प्रतीकों एवं बिम्बों के माध्यम से मनोवैज्ञानिक धरातल पर पकड़ते हैं। **'अपने से अलग'** उपन्यास की मुख्य महिला पात्र पति के अलग होने पर किस प्रकार तिल–तिल अन्दर से समय के साथ–साथ टूटती जाती है। इसकी बहुत प्रामाणिक अभिव्यक्ति विमल करते हैं **''अक्सर ही नहीं हमेशा मैं उन्हें जगा हुआ पाता। वर्षों तक मैंने माँ को इसी तरह रात–रात भर जागने पर जगा हुआ पाया है।''**[ii]

सम्बन्धों के टूटने की पीड़ा का गहन और सांकेतिक प्रतिध्वनियाँ **'अपने से अलग'** में स्पष्ट रूप से सुनायी पड़ती हैं। साठोत्तरी युग में एक मध्यवर्गीय महिला सम्बन्धों की इस टूटन और पीड़ा को कैसे अकेले झेलने के लिए अभिशप्त है? इसका प्रामाणिक अंकन इस उपन्यास में दिखायी देता है। सम्बन्धों के टूटने की यह पीड़ा जैसे उसके समूचे वजूद को ही हिला देती है **''उनके चेहरे पर एक अजीब–सी थकान, आँखों में विवशता और मुरझायापन था। वह मुरझायापन जिसकी कभी–भी कल्पना नहीं की जा सकती थी।''**[iii]

तमाम विकास और तकनीकी कौशल, औद्योगीकरण और पूँजीवाद का सामाजिक सम्बन्धों पर क्या प्रभाव पड़ा? इसकी सांकेतिक और प्रामाणिक अभिव्यक्ति, स्त्री के चेहरे की थकान, आँखों की विवशता और मुरझाएपन में स्पष्ट देखी जा सकती है। कुछ आलोचक इन स्थितियों को भारतीय परिवेश की उपज न मानकर विदेशी सरज़मी से आयातित मानते हैं। **रामविलास शर्मा** तो अपनी पुस्तक **'हिन्दी कविता पर अस्तित्ववाद का प्रभाव'** में इन सभी स्थितियों को अस्तित्ववाद की परिणति ही मानते हैं। यदि वास्तव में साठोत्तरी समाज के सामाजिक ताने–बाने को राजनीतिक मोहभंग को आप सूक्ष्मता में देखेंगे तो इन स्थितियों के लिए उत्तरदायी तमाम कारक भारतीय समाज और परिवेश में ही मौजूद मिलेंगे। हाँ, यह भी सत्य है कि यह स्थितियाँ सम्पूर्ण समाज का सत्य नहीं थी किन्तु विमल ने जिस समाज को अपने उपन्यास का वर्ण्य–विषय बनाया है। उस समाज का यह अधूरा साक्षात् है। **नेमिचन्द्र जैन** ने इस उपन्यास के सन्दर्भ

में जो टिप्पणी की थी, विमल भी उस टिप्पणी से इत्तेफाक रखते हैं। उन्होंने स्वयं यह स्वीकार भी किया है **"'अपने से अलग' को इस आधार पर परखता हूँ तो मैं नेमिचन्द्र जैन से सहमत होता हूँ कि यह जीवन के जिस पक्ष से भी संबंधित है, एक अधूरा साक्षात् है।"**[iv]

विमल लेखक होने के साथ–साथ एक आलोचक भी थे, इसलिए वे अपनी कमियों पर आँखें बंद नहीं करते और व ही चुप्पी ओढ़ते हैं, अपितु बहुत ही बेबाकी और निर्भीकता के साथ उसे स्वीकार भी करते हैं। विमल और नेमिचंद्र जैन की टिप्पणी से यह स्थितियाँ कृत्रिम नहीं हो पाती, अपितु और भी अधिक प्रामाणिक हो जाती हैं। बड़ा लेखक हमेशा अधूरा सत्य ही दिखाता है। आधा सच उसमें पाठक या श्रोता का स्वयं का होता है। तभी वह पूर्ण सत्य बनता है। कोई भी साहित्यकार सम्पूर्ण सत्य का दावा नहीं कर सकता। विमल ने इसी लेखकीय ईमानदारी का सच्चाई से निवर्हन किया है। साठोत्तरी समाज में भी पारिवारिक विघटन, अजनबीपन, संत्रास, ऊब, रिश्तों में ठंडापन और अलगाव बोध धीरे–धीरे उभर रहा था। विमल ने इन्हीं स्थितियों को कथानक संबंधी रूढ़ियों को तोड़ते हुए एक नई कथा कहने का प्रयास किया, जो प्रायः आलोचकों के गले नहीं उतरा। ऐसे आरोप अज्ञेय के उपन्यास **'शेखर एक जीवनी'** पर भी लगते रहे और अज्ञेय ने इन आरोपों का बड़ी बेबाकी से यह कहकर उत्तर दिया कि यदि यह दो फीसदी लोगों का भी सत्य है, तो यह कहानी प्रामाणिक है।

'अपने से अलग' उपन्यास की स्त्री पात्र साठोत्तरी युग की सामाजिक विघटन की शिकार महिलाओं की प्रतिनिधि पात्र है। लेखक ने उसकी मनोवैज्ञानिकता का प्रभावशाली अंकन किया है **"हलकी चाँदनी में मैंने वह सब देखा था। माँ अपने हाथ आसमान की तरफ उठाए हुए थी, उनके हाथ ऐसी मुद्रा में खड़े थे जैसे वे आसमान से किसी को बुला रही हो।"**[v]

कुछ आलोचकों को ये स्थितियाँ वायवीय या अस्वाभाविक लग सकती हैं, किन्तु एक मध्यवर्गीय स्त्री का समूचा संसार ही अपने पति के इर्द–गिर्द सिमटा होता है और जब वह पति ही उससे संबंध विच्छेद कर ले तो कोई भी स्त्री मानसिक रूग्णता या विक्षिप्तता का शिकार हो सकती है। आज के समाज में तो ये स्थितियाँ आम लगती हैं।

'कहीं कुछ और' विमल का दूसरा उपन्यास है जिसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन से 1971 ई० में हुआ। यह उपन्यास भी आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। इस उपन्यास के केन्द्र में भी एक परिवार का कथानक है। उपन्यास में घटनाएँ बहुत कम हैं। पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्थितियों का ही विस्तार कथानक के रूप में किया गया है। इस उपन्यास में लेखक ने एक और बेरोजगारी के कारण एक परिवार के टूटने की कथा का विस्तार किया है जबकि दूसरी ओर लेखक ने इसी परिवार की अभिजात्यवादी मानसिकता का मनोवैज्ञानिक विस्तार किया है। आजादी के बाद भारतीय समाज में एक ऐसा वर्ग था, जिसकी आर्थिक स्थिति निरन्तर जर्जर हो रही थी किन्तु उनका कुलीनतावाद जो उनके मस्तिष्क में एक

संस्कार की तरह जमा हुआ था और वह उन्हें कुछ भी करने की अनुमति नहीं देता था। इस उपन्यास में भी एक ऐसा ही परिवार है जिसके परिवार के मुखिया के नौकरी छूटने पर पूरा परिवार विपन्नता की स्थिति का सामना करता है और यहाँ तक कि परिवार के सदस्यों को भूखों मरने की स्थिति पैदा हो जाती है किन्तु उस परिवार के मुखिया की पत्नी अपने बच्चों को कोई भी कार्य या नौकरी करने की इजाजत नहीं देती। यह उस पीढ़ी की सामन्ती मानसिकता का ही प्रतिफलन है, जो अपने आप में बहुत ही निष्ठुर और जड़ है। साठोत्तरी समाज में एक ऐसा वर्ग था जो सामन्ती संस्कृति को ढहते हुए बहुत ही निर्विकार भाव से देख रहा था किन्तु अपने मूल चरित्र कुलीनतावाद को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था।

कमलेश्वर, गिरिराज किशोर आदि लेखकों ने सामंती संस्कृति की जर्जर होती स्थितियों का बड़ा प्रामाणिक चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। विमल भी इसी संस्कृति के विध्वंस की कहानी को मनोवैज्ञानिक स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करते हैं। इस उपन्यास के पात्र बहुत ठंडे, कान्तिहीन, उत्साहहीन और नियतिवादी से लगते हैं, जिसके कारण प्रायः आलोचक इस उपन्यास पर वायवीयता और अमूर्तनता का आरोप लगाते हैं, किन्तु जो लोग अभिजात्यवादी संस्कृति और उसके कुलीनतावाद से परिचित हैं, वे भली–भाँति जानते हैं कि इस संस्कृति में पले बढ़े लोग किस सीमा तक अपने मूल में निष्ठुर होते हैं, जो देश की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को बदलते नहीं हैं, वरन् उन स्थितियों को बड़े तटस्थ होकर देखते रहते हैं। इस उपन्यास की महिला पात्र भूख और बेरोजगारी से निजात पाने के लिए अपने बच्चों को कोई कार्य नहीं करने देती वरन् यह कहकर उन्हें झिड़क देती है कि अभी मैं और तुम्हारे पापा जीवित हैं।

विमल ने अपने उपन्यास **'मृगान्तक'** में धर्म के नाम पर फैले अंधविश्वास ढोंग और पाखण्ड का बड़ा प्रामाणिक चित्रण किया है। धर्म के नाम पर भारतीय समाज का कितना पतन और स्खलन हुआ है, यह किसी से छिपा नहीं है। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 21वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में मानों बाबाओं, मठाधीशों और आश्रमों की बाढ़–सी आ गयी थी, किन्तु विमल इन आर्थिक स्थितियों को भारत की महान सांस्कृतिक परम्परा कहकर इन स्थितियों पर पर्दा नहीं डालते और न ही कोई मुलम्मा चढ़ाते हैं। अपितु 80 के दशक में ही इन स्थितियों को धर्म के नाम पर फलने–फूलने वाला व्यापार करार देते हैं **"अगले दो दिनों के लिए माँ कीर्तिबाई मौन धारण कर रही थीं। उनके आश्रम और उनकी दिनचर्या के बाबत जानकर मुझे लगा कि यह सब–कुछ पूर्व नियोजित अभिनय हो। जैसे समाज में अपना असर डालने के लिए यह सब–कुछ जरूरी हो।**

ज्यादातर महात्मन लोग इसी किस्म के नाटकों का हिस्सा लगते थे। कोई गंगा नदी में स्नान कर रहा है, कोई अपने शिष्यों के साथ ढ़ोल–बाजे के साथ जा रहा है। कोई अघोरपंथी निरन्तर गाली बकता जा रहा

है तो कहीं–कहीं साधु लोग सामान्यजनों को मामूली किस्म की जादूगरी दिखाने में लगे हुए हैं। यह साफ–साफ धर्म का व्यापार लगता है।''[vi]

भारतीय समाज में धर्म के नाम पर सदियों से धार्मिक पंडे, पुजारी, बाबा और मठाधीश आम जनता को बरगलाकर अपनी स्वार्थ सिद्धि में लगे रहते हैं। विमल इस समूची प्रक्रिया की गहन शिनाख्त करते हैं। उन्होंने अपने उपन्यास **'मरीचिका'** में भी धर्म के नाम पर फैली विकृतियों का बिना किसी संकोच के यथार्थ अंकन किया है **''बरसात के दिनों में पहाड़ी गाँव धसक जाते और आदमी पानी में बह जाते, जो वह किनारों पर मृत देहें इमारती लकड़ी के गट्ठों की तरह टिक जाती। उन लाशों पर चढ़कर अघोरपंथी अपने नाखूनों से मृत शवों का माँस नोंच–नोंचकर खाते। नरमुण्डों की माला बनाकर अपने गलों में धारण करते।''[vii]**

विमल अपने दोनों उपन्यास **'मरीचिका'** और **'मृगान्तक'** में धर्म के नाम पर फैली इन तमाम अमानवीयताओं और क्रूरताओं की विभीषिका का यथार्थ चित्रण करते हैं। आज के इस उत्तर आधुनिक युग में भी जब ज्ञान–विज्ञान और तकनीक ने मानव समाज को समृद्धि के नए क्षितिजों की ओर अग्रसर किया है। हमनें आकाश और पाताल के अनेक गूढ़ रहस्यों को सुलझा लिया हो। मानव ने 'सुपर कम्प्यूटर' का निर्माण कर अपनी बौद्धिक मेधा का परिचय दिया है, किन्तु फिर भी धर्म की जकड़बन्दियाँ भारतीय समाज को अपने चंगुल में जकड़े हुए हैं। यह स्थितियाँ विमल को व्यग्र करती हैं। वे केवल धर्म के नाम पर फैले इस अनाचार के स्थूल ब्यौरे प्रस्तुत नहीं करते अपितु पाठकों को यह सोचने के लिए विवश करते हैं कि इस अंधश्रद्धा के पीछे कितना बड़ा 'मैकेनिज़्म' काम करता है। आम व्यक्ति भव्यता और दिव्यता की आड़ में उसके वास्तविक सत्य को कभी समझ ही नहीं पाता। विमल अपने उपन्यासों में धर्म के इस तिलिस्म और मायालोक को अनावृत्त कर देते हैं। एक उदाहरण इस संदर्भ में गौरतलब हैं **''देखो सन्त महाराज के बारे में अनादर या अविश्वास के लफ्ज इस्तेमाल नहीं करने चाहिए। तुम्हें नहीं मालूम सन्त जी कितने भव्य हैं। मैंने क्राइस्ट का जो फोटो देखा है, उसमें जो करुणा और आत्मीयता है वही सन्त महाराज के व्यक्तित्व में भी है, शहर के लोगों से पूछो तो।''[viii]**

गंगा प्रसाद विमल ने अपने उपन्यासों में कुकुरमुत्ते की तरह उगते सन्त–महात्माओं और उनके भक्तों की बेवकूफी की सीमा तक अन्धश्रद्धा का बड़ा ही प्रामाणिक वर्णन किया है **''शहर के बहुत से लोगों ने दर्शन किए हैं सन्त महाराज के। उसके हर शब्द में श्रद्धा भरी हुई थी, मूर्खता की हद तक की श्रद्धा जो आज के जमाने में बनावटी और बेकार लगती है।''[ix]**

डॉ० विमल ने तत्कालीन युग में धार्मिक संस्थाओं, मठों की आड़ में चले आ रहे काले धन की संस्कृति का पर्दाफाश किया है। एक उदाहरण दृष्टव्य है **''आँखें खोलने वाले आँकड़े मैंने खुद अपनी आँखों से देखे हैं,**

वह भी धार्मिक पुस्तक में जिस में लिखा था, किस तरह करोड़ो रूपया दान के तौर पर धार्मिक संस्थाओं को धनिकों द्वारा दिया जाता है। हमारे ही देश में एक प्रान्त है, जहाँ के धार्मिक संस्थान का सालाना बजट उतना ही है जितना कुल मिलाकर पूरे प्रान्त का बजट होता है। काले धन की संस्कृति में एक अलग सरकार चलती है, जो किसी भी सरकारी एजेन्सी से न पकड़ी जाए, इसलिए धार्मिक मठों, मन्दिरों, ट्रस्टों के नामों से काम करती है या वह सरकारी अफसरों को रिश्वत के भत्ते देकर सक्रिय रहती है।''[x]

विमल ने **'मरीचिका'** उपन्यास में कफ्फू (समाज जिसे पागल समझता है) के माध्यम से यह तथ्य भी उद्घाटित किया है कि हमारा समाज किस तरह से चमत्कार की मरीचिका में पड़कर अंधविश्वास, गप्प आदि में विश्वास करता है। सभी को एक ऐसी शक्ति (सन्त, बाबा) की तलाश है जो उन्हें रातों–रात अमीर बना दें। ढोंग, फरेब और झूठ के साम्राज्य के बल पर आज के तथाकथित बाबा समाज की संरचना को तोड़–फोड़कर नष्ट कर रहे हैं, जो व्यक्ति सत्य बोलता है, सही रास्ता दिखाता है, उसे समाज द्वारा पागल घोषित कर दिया जाता है। लेखक ऐसे पागलपन को तथाकथित साधुता से श्रेष्ठ मानते हैं।

डॉ० विमल अपने उपन्यासों में स्वातंत्र्योत्तर युग की आर्थिक स्थितियों का भी बड़ा प्रामाणिक चित्रण करते हैं। 'मृगान्तक' उपन्यास में विमल ने फैन्टेसी का बड़ा ही कलात्मक और अनूठा चित्रण किया है।

'मृगान्तक' उपन्यास में विमल ने बौक्षु का एक प्रतीक गढ़ा है। यह बौक्षु सत्ता का, व्यवस्था का, अंधविश्वास का, धर्म का, राजनेता का और सामन्तशाही आदि कई रूपों का उत्कृष्ट प्रतिनिधित्व करता है। इस उपन्यास का फिल्मीकरण भी हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय निर्देशक ने भारत के कद्दावर अभिनेता **'इरफान खान'** और कई अन्तर्राष्ट्रीय कलाकारों को लेकर एक उत्कृष्ट फिल्म निर्देशित की, जिसमें भारतीय समाज में फैली हिंसा को कई कोणों से दिखाने का सार्थक प्रयास किया है। इस उपन्यास की चर्चा भी हिन्दी पट्टी के आलोचकों ने नहीं की। यह उपन्यास हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, फिर भी हिन्दी समीक्षकों की इसके प्रति उदासीनता समझ से परे है।

'मृगान्तक' उपन्यास का पात्र **'रिज्या शाह'** जो कि बोक्षु का भी प्रतीक है और साथ ही सामन्तशाही और पूँजीवादी व्यवस्था का भी प्रतिनिधित्व करता है। रिज्याशाह आम आदमी की गरीबी, विवशता और बेबसी का अनुचित लाभ उठाता है **''इतने में छुन्तू एक थैली लेकर आ गया था। जा जरा कागज पैन्सिल भी ले आ। रिज्याशाह ने पच्चीस रूपए निकाले और उसके हाथों में रख दिए। 'छुंतू' कागज लाया तो उस पर रकम दर्ज की और उस आदमी के हस्ताक्षर करवा दिए। तो भाई पच्चीस रूपए का साल भर का ब्याज हुआ सवा छः रूपया और गाँठ खुलाई हुई दस आने। दो आने छुंतू के . . . ये लो भैय्या अट्ठारह रूपए।''**[xi]

बीसवीं शताब्दी में भारत प्रगति कर कहाँ से कहाँ पहुँच गया है। चारों ओर बड़ी–बड़ी फैक्ट्रियाँ, सार्वजनिक उपकरणों का निर्माण, बाँधों का निर्माण, नये–नये पुलों का निर्माण, परिवहन सुविधाएँ आदि सभी तरह के

विकास कार्य हुए हैं। किन्तु दूसरी ओर एक दूसरा भारत भी है, जिसके लिए रोटी, रोजमर्रा की वस्तुएँ मात्र एक यूटोपिया बनकर रह गयी थीं। लोग यहाँ तक की गरीबी से तंग आकर अपनी बेटियों तक को भी बेच देते हैं। यह एकमात्र एक कथन नहीं, बल्कि तत्कालीन युग की सच्चाई थी।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि गंगा प्रसाद विमल के उपन्यासों में स्वातंत्र्योत्तर भारत का तमाम परिस्थितियाँ और उनसे उपजा विद्रूप एक अलग ही शैली में अभिव्यक्त हुआ है। उनके उपन्यास भले ही आलोचकों के गले न उतरते हों किन्तु हिन्दी उपन्यास के इतिहास में वे अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

[i]- डॉ० विमल, अपने से अलग, पृ०सं०

[ii]- वही, पृ०सं० 9

[iii]- वही, पृ०सं० 11

[iv]- डॉ० विमल, अपने से अलग, उपन्यास का फ्लैप

[v]- वही, पृ०सं० 121

[vi]- डॉ० विमल, मृगान्तक, पृ०सं० 19–20

[vii]- डॉ० विमल, मरीचिका, पृ०सं० 121

[viii]- डॉ० विमल, मृगान्तक, पृ०सं० 86

[ix]- डॉ० विमल, मरीचिका, पृ०सं० 24

[x]- वही, पृ०सं० 24

[xi]- डॉ० विमल, मृगान्तक, पृ०सं० 91